अनुवादक के दो शब्द

लगभग दो वर्ष हुए, अमेठी राज्यके द्वितीय राजकुमार रणञ्जयसिंहजी ने मनोविज्ञान तथा आचार सम्बधी पुस्तकों के विषय में वार्तालाप करते हुए मेरा ध्यान मिस्टर तथा मिसेज़ जेम्सएलिन की रचनाओं की ओर आकृष्ट किया और मिसेज़ जेम्स एलिन रचित (Personality) नामक पुस्तक पढ़ने के लिये दिया। अवकाशाभाव एव

अन्य कारणों से उस समय मै उसे आद्योपान्त न पढ़ सका और कुछ दिनों मे उसका ध्यान जाता रहा।

इस वर्ष, जब कि मै कई महीने से बीमार था, सयोग वश मेरे एक मित्र ने जेम्सएलिन की पुस्तको की शान्ति-दायिनी शक्ति की चर्चा की। मुझे उक्त कुमार महोदयका आदेश याद आय। और मैने रुग्णावस्था मे ही जेम्स-महोदय की कई पुस्तको का अध्ययन किया, जिससे मुझे पूर्ण शान्ति मिली और स्वास्थ्य पर भी उसका अच्छा प्रभाव पडा। अस्तु, मेरे हृदय मे जेम्स महोदय की पुस्तको को हिन्दी-पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करने की प्रबल इच्छा हुई।

प्रस्तुत पुस्तक जेम्सएलिन को man, King of mind, body, and, circumstancs का हिन्दी रूपान्तर हैं। जेम्स महोदय ने मानस् शक्तिकी व्याप-कता का बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया है। उनकी वर्णन शैली हृदयग्राही तथा भावपूर्ण है। दु:खद्वन्द्व से प्रसित ससारी प्राणियो के लिये उनका सन्देश नवीन शक्ति और आशा का स्त्रोत है।

वास्तव मे मन की शक्ति बड़ी प्रबल तथा अद्भुत है।

डेम्पफ्लिन के शब्दों में "हमारा सुखी अथवा दुखी, शक्तिशाली अथवा निर्बल, पापात्मा अथवा सन्त, मूर्ख अथवा बुद्धिमान होना हमारी मानसिक अवस्था और प्रवृत्ति पर अवलम्बित है" यह मानसिक अवस्था अथवा प्रवृत्ति किसी बाह्य शक्ति द्वारा नहीं परिचालित होती। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य विधाता है।

विचार तथा कार्य मानस् सङ्कल्प के बाह्यरूप हैं। यदि मनमें शुभ सङ्कल्प उदय होता है, तो विचार तथा कार्य प्रशस्त होते हैं। यही कारण है कि जेम्समहोदय ने कर्म की शुद्धिपर विशेष जोर दिया है। पाठकोंपर उनकी आचारिक शिक्षाका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

मैंने अनुवाद में लेखक की भाषा, तथा 'भाव' यथातथ्य व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। यदि पाठकों का इस से कुछ भी लाभ हुआ तो अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

सुलतानपुर
(अवध)

देवकलीदीन शर्मा

प्राक्कथन्

जीवनचर्या का ज्ञान प्राप्त करना जीवनका मुख्य प्रश्न है। यह प्रश्न छोटे विद्यार्थियों के जोड़-बाकी के प्रश्न के सदृश्य है। इसके अवगत होते ही सारी कठिनाइयाँ जाती रहती हैं और प्रश्न भी अन्तर्हित हो जाता है। जीवन की सारी समस्यायें, सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक, अज्ञान और अनाचार के कारण उपस्थित होती हैं। जब प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें वैयक्तिक रूपमे, उनका समाधान हो जायगा, तब समष्टि रूपसे मानव समाज में भी उनका समाधान होगा। सम्प्रति मनुष्य जाति शिक्षा काल की वेदनावस्था में स्थित है, उसे स्वयं अपनी ही अज्ञानजनित कठिनाइयों से पाला पड़ा है। जैसे-जैसे मनुष्य उचितरीति से जीवन-यापन, निज शक्तियों का समुचित सञ्चालन और ज्ञान के प्रकाश में अपनी वृत्ति तथा क्षमता का सदुपयोग करना सीखेगें, वैसे-वैसे जीवन का प्रश्न ठीक ठीक हल होगा और उसका आधिपत्य "बुराई के प्रश्नों" का अन्त कर देगा। ज्ञानियों के लिये इस प्रकार के सारे प्रश्नों का अस्तित्व नष्ट हो गया है।

जेम्स एलिन

विषय-सूची

विषय—	पृष्ठ
१—विचारोंका आभ्यन्तर जगत—	६
२—वस्तुओं का वाह्य जगत—	२०
३—स्वभावः उसकी दासतातथा स्वतन्त्रता—	३२
४—शारीरिक दशायें—	४६
५—दरिद्रता—	५१
६—मनुष्य का आत्मिक साम्राज्य—	७०
७—विजयः न कि समर्पण—	७५

विजयी-पुरुष

विचारों का आभ्यान्तर-जगत

मनुष्य, अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है। अपरञ्च वह उनका निर्माता और नियन्ता है। दुःख, सुख बाहर से नहीं ढूँढ़े जाते। वास्तव में वे मनुष्य की आन्तरिक दशायें हैं। उनकी उत्पत्ति देव-दानव अथवा परिस्थिति से नहीं, बल्कि मानसिक भावों से होती है। दुःख सुख वस्तुतः कर्म के फल हैं और कर्म,

विचारों के बाह्यरूप है। मस्तिष्क की दृढ़ धारणायें आचरण का मार्ग निर्धारित करती है और आचरण के मार्ग के वे प्रति फल हैं—जिन्हें हम सुख अथवा दु.ख कहते हैं। अतएव यह निष्कर्ष अनिवार्य्य है कि वीज रूप कारण में परिवर्तन पैदा करने के लिये मनुष्य को अपनी कर्मोद्यत विचार धारा में परिवर्तन करना चाहिये। दु.ख को सुख से वदलने के लिये मस्तिष्क की दृढ़ धारणा और क्लेश की निमित्त कारण स्वाभाविक कार्य शैली में परिवर्तन परमावश्यक है। ऐसा कर देने पर मस्तिष्क और जीवन दोनो पर इसका प्रभाव प्रकट हो जायगा। जव तक मनुष्य के विचार तथा कार्य स्वार्थ-पूर्ण होते है, तव तक उसमे आनन्द-प्राप्ति की शक्ति नहीं होती। इसके प्रतिकूल निःस्वार्थ कर्म तथा विचार करते हुये मनुष्य दुखी भी नहीं रह सकता। कारण की विद्यमानता में कार्य का प्रकट होना अनिवार्य्य है। मनुष्य कर्म फल मेंट नहीं सकता। किन्तु वह उसके कारणों में तवदीली कर सकता है। वह अपनी प्रकृति का सशो-

घन तथा चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है। आत्म-विजय में बड़ी शक्ति होती है! आत्म संशोधन में बड़ा आनन्द मिलता है।

प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों से परिमित है। किन्तु वह शनैः-शनैः उसके वृत्त को विस्तृत कर सकता है। वह अपना मानसिक परिधि विशाल और उन्नत बना सकता है। वह नीच प्रकृति त्यागकर ऊँचे उठ सकता है। वह ऐसे विचारों को स्थान देने से बच सकता है, जो अन्धकार-पूर्ण तथा कलुषित हैं और उनके स्थान में प्रकाश-पूर्ण तथा सुन्दर विचारों को स्थान दे सकता है। जैसे-जैसे वह इस प्रकार का अभ्यास करता जायगा, वैसे वैसे वह शक्ति और सौन्दर्य का उच्चतर पटल प्राप्त करता जायगा और उसे एक अधिक पूर्ण तथा आनन्द-मय जगत का भान होगा।

कारण, मनुष्य अपने विचारों के अनुकूल निम्न अथवा उच्च पटलों में निवास करता है। उसका संसार उतनाही अन्धकारपूर्ण तथा संकीर्ण होता है, जितना उसके विचार में रहता है। अथवा उतनाही विस्तृत और

विशाल होता है, जितना उसमे समझने की शक्ति होती है। उसके इर्द-गिर्द के सभी पदार्थ उसके विचारों के रङ्ग में रगे होते हैं। ऐसे मनुष्य का विचार करो जिसका मस्तिष्क अविश्वास, तृष्णा तथा द्वेष से पूर्ण है। उसे प्रत्येक पदार्थ कितना तुच्छ, निकृष्ट और शुष्क जँचता है। स्वय अपने में विशालता का अभाव होने से उसे किसी स्थान में विशालता दृष्टिगोचर नहीं होती, स्वय घृणित होने के कारण वह किसी भी पदार्थ मे महानता अनुभव करने में असमर्थ है। उसका उपास्यदेव भी लालची है, जो रिश्वत से प्रसन्न हो सकता है। वह समस्त मानव समाज को उतनाहीं सकीर्ण और स्वार्थ-लोलुप समझता है जितना कि वह स्वय है, यहाँ तक कि वह अत्यन्त प्रशंसित तथा निःस्वार्थकार्यों में भी ऐसी मनोवृत्ति ढूँढ निकालता है जो महा निकृष्ट और घृणित होती है। पुनः ऐसे मनुष्य का विचार करो जिसका मस्तिष्क विश्वास-पूर्ण, उदार और विशाल है। उसका संसार कितना अद्भुत और सुन्दर है। वह प्रत्येक जीव और वस्तु मे एक प्रकार की महा-

नता अनुभव करता है। उसे सभी मनुष्य सच्चे जँचते हैं और उसके लिये सभी सच्चे हैं। उसके समक्ष निकृष्ट तम व्यक्ति भी अपना स्वभाव भूल जाते हैं। उस क्षणिक उत्थान में भी पदार्थों के उन्नत-स्वरूप का आभास उन्हें हो जाता है और उनके मस्तिष्क में एक अत्यन्त महान तथा आनन्दमय जीवन की धुँधली झलक प्राप्त हो जाती है।

संकीर्ण हृदय वाला, तथा उदार चेता मनुष्य, दो विभिन्न जगत के निवासी हैं, चाहे वे दोनों पड़ोस ही में क्यों न रहते हों। उनके अनुभव दो विभिन्न रूप ग्रहण करते हैं, उनके कार्य्य एक दूसरे के प्रतिकूल होते हैं, उनकी धार्मिक अन्तर्दृष्टि विरोधी होती है, वे पदार्थों में भिन्न भिन्न व्यवस्था अनुभव करते हैं, उनके मान-सिक पटल एक दूसरे से पृथक होते हैं और दो विच्छिन्न वृत्तों की भाँति कभी उनका समागम नहीं होता। एक नरक में तो दूसरा देवलोक में स्थित है और सदैव इसी प्रकार रहेंगे। मृत्यु के अनन्तर भी उनके मध्य में उससे बड़ी खाईं नहीं हो सकती, जितनी कि पहले हो

से वर्तमान है। एक के लिए संसार चोरों की माँद है तो दूसरे के लिये वही देवताओं का निवास-स्थान है। एक अपने पास पिस्तौल रखता है और सदैव धोखा तथा चोरी से अपनी रक्षा के लिये उद्यत रहता है। उसे इस बात का ज्ञान नही होता कि प्रतिक्षण वह स्वयं अपनी आत्मा को धोखा दे रहा और निर्धन बना रहा है। दूसरा व्यक्ति सज्जनो के लिये उत्तम पदार्थ प्रस्तुत रखता है। वह अपना द्वार बुद्धिमत्ता, सौन्दर्य्य, महत्ता और उत्तमत्ता के लिये खोल रखता है। आचरण के विशिष्ट गुण ही उसके मित्र होते है, वे उसके विचार-पटल एव अनुभूत-जगत के भीतर रहते हैं। उसके हृदय से सज्जनता का स्रोत उमड उठता है। वह सबके साथ सुशीलतापूर्ण व्यवहार करता है और फलस्वरूप सब उसका प्रेम तथा सम्मान करते है।

मानव समाज में जो स्वाभाविक अन्तर दिखलाई पड़ता है, वह वस्तुतः आचार-विचार में भेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनुन्नत प्राणी इन भेदों का विरोध चाहे जितना करे, किन्तु वह उनमे परिवर्तन नहीं कर

सकता । विचार के ढंगों में समानता उत्पन्न करने का कोई बनावटी उपाय नहीं है. क्योंकि विचारों में स्वभावत एकता नहीं होती । वे, जीवन के नियमों द्वारा पृथक होते हैं । नियमों को उल्लंघन करने वाला और नियमानुकूल आचरण करने वाला एक दूसरे से सदा पृथक रहता है । गर्व अथवा घृणा के कारण वे एक दूसरे से पृथक नहीं होते, बल्कि आचार-भेद तथा बुद्धि भेद जो वस्तुओं के चरित्रगठन के सिद्धांतानुसार परस्पर असम्बद्ध होते हैं, उनमें पार्थक्य उत्पन्न करते हैं । असभ्य तथा अशिष्ट व्यक्ति सभ्य तथा शिष्ट के समाज से अपने ही विचारों की अनुलंघनीय भित्ति द्वारा बहिष्कृत होते हैं, जिसे वे अविचल आत्मोन्नति द्वारा तो हटा सकते हैं, पर अनधिकारचेष्टा करके उसके पार नहीं जासकते । स्वर्ग का राज्य पशुबल से नहीं प्राप्त होता । जो उसके नियमानुकूल आचरण करता है, उसमें प्रवेश का अधिकारी होता है । दुर्जन दुष्ट जनों की समाज में वास करते हैं और उत्तम प्राणी ईश्वर भक्तों के मध्य में रहते हैं । उनका उपदेश स्वर्गीय संगीत के सदृश मधुर होता है । मनुष्य उस

दर्पण के समान है जो अपने धरातल के अनुसार ही प्रतिबिम्ब फेंकता है। मनुष्य, प्राणि तथा अप्राणि जगत को देखने मे वस्तुतः ऐसे दर्पण को देखता है, जिसमे स्वय उसी का प्रतिबिम्ब प्रकट होता है।

प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों के सकुचित अथवा विशाल परिधि मे भ्रमण करता है और उस परिधि से वाह्य जगत् उसके लिये शून्य है। ससार उसे वैसा ही दिखलाई पढता है, जैसा वह स्वय वन गया है। उसकी विचार सीमा जितनी ही तग होती है, उतनी ही उसकी यह धारणा प्रबल होती है कि उसके विचार क्षेत्र के आगे कोई दूसरी सीमा अथवा परिधि नही है। न्यून मे अधिक का समावेश नहीं होता और विशाल मस्तिष्क को समझने का उसके पास कोई जरिया नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान उत्थान ही से प्राप्त होता है। वह मनुष्य, जो विचार के विस्तृत परिधि मे वसता है, सभी सकीर्ण क्षेत्रों से जिनसे उसका उत्थान हुआ है, परिचित होता है। कारण, विस्तृत अनुभव मे सभी सकीर्ण अनुभव स्थित तथा समाविष्ट होते हैं। जब उसकी

विचार सीमा मनुष्यता की चर्म सीमा को पहुँच जाती है, जब वह निष्कलङ्क आचरण तथा सद्विवेकवालों के समागम तथा सहवास के योग्य हो जाता है, तब उसकी विवेक शक्ति उसे इस तथ्य का निश्चय कराने के योग्य हो जाती है कि उसकी विचार सीमा से आगे बृहत् तथा विस्तृत परिधि वर्तमान है, जिसका उसे अति-न्यून अथवा बिल्कुल ज्ञान नहीं है।

जिस प्रकार पाठशालाओं में विद्यार्थी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही भिन्न-भिन्न कक्षाओं में अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी बुद्धि तथा विचारों के कारण ही विभिन्न श्रेणियों के अधिकारी होते हैं। प्रथम श्रेणी के बालक के लिये छठी श्रेणी का पाठ्य-क्रम अज्ञेय है—उसकी समझ की सीमा से परे है। किन्तु वह पठन-पाठन में अनुरक्त प्रयास तथा धैर्य-पूर्ण उन्नति करके छठी कक्षा में पहुँच जाता है। सभी माध्यमिक कक्षाओं पर विजय तथा आधिपत्य प्राप्त करके ही छठी कक्षा में पहुँचता है और उसकी शिक्षा को अपना लेता है, तो जो उसके

आगे शिक्षक का परिचय बना रहता है। इसी तरह वे मनुष्य, जिनके कर्म निकृष्ट, स्वार्थयुक्त, सकाम तथा उत्तेजना-पूर्ण होते हैं, उन व्यक्तियों की कल्पना नहीं कर सकते, जिनके कर्म उज्वल तथा निष्काम हैं और जिनका मस्तिष्क शांत, शुद्ध अथच गम्भीर है। किंतु उचित रीति से कार्य करने, विचारों में उन्नति करने तथा नैतिक उत्थान से वह श्रेष्ठ-पद तथा विस्तृत अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। इन सबसे परे मानव-समाज के प्रवर्तकों और उद्धारकों का पद है जो विभिन्न धर्मानुयायियों द्वारा पूजे जाते हैं। छात्रों की कक्षाओं की भाँति शिक्षकों की भी श्रेणियाँ होती हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो अभी तक उस पद को नहीं प्राप्त कर सके हैं, तो भी अपने तेजोमय सदाचार और चरित्र बल के कारण पथ-प्रदर्शक अथवा गुरु बने हैं। किंतु गुरु अथवा शिक्षक की गद्दी प्राप्त करने से ही मनुष्य गुरु नहीं बन जाता। नैतिक-महत्ता और धार्मिक विचार ही मनुष्य को शिक्षक बनाने में सहायक होते हैं और उन्हीं के कारण वह मानव-समाज से सम्मान

एव प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

प्रत्येक मनुष्य उतना ही नत अथवा उन्नत, तुच्छ अथवा महान, अधम अथवा सज्जन होता है जैसे कि उसके विचार होते हैं । न न्यून और न अधिक । प्रत्येक, अपने ही विचारों की परिधि मे विचरण करता है और वही परिधि उसका ससार है । उस ससार में, जिसमे वह अपने विचारों की प्रकृति का निर्माण करता है, उसे सहयोगी मिल जाते है । वह ऐसे पटल मे निवास करता है, जो उसके विशेष उत्थान के अनुकूल होते हैं । किन्तु वह निकृष्ट ससार मे रहने के लिये बाध्य नही है । वह अपने विचारों को उन्नत शील बनाकर ऊपर उठ सकता है । वह उच्चतर पटल तथा आनन्द-प्रद निवास स्थान मे ऊपर तथा आगे जा सकता है । वह अपनी इच्छा से स्वार्थ-परक विचारो की शृङ्खला को तोड़ सकता है और विशाल जीवन की अधिक शुद्ध वायु मे श्वास ले सकता है ।

वस्तुओं का वाह्य-जगत

वस्तुओं का वाह्य-जगत विचार-जगत का दूसरा रूप है। अभ्यांतर वाह्य-जगत को प्रकट करता है। वृहद् में न्यून का समावेश होता है। प्रकृति मस्तिष्क का दूसरा रूप है। घटनायें विचार की धारायें हैं। परिस्थिति विचारों का एकत्रीकरण है और वाहरी घटनायें तथा दूसरे के कार्य, प्रत्येक मनुष्य जिनके अत-

भूत है, उसकी मानसिक अवस्थाओं तथा उन्नतियों से निरन्तरतम् सम्बध रखते हैं। मनुष्य अपनी निकटवर्ती वस्तुओं का एक भाग है, वह अपने सहगामियों से पृथक नहीं, किन्तु कार्यों की विशेष घनिष्टता, सघर्षण तथा विचार के प्राकृतिक नियम के जो मानव-समाज के आधार हैं, बँधा हुआ है।

कोई व्यक्ति अपने क्षण-भगुर विचारों एव वास-नाओं की पूर्ति के लिये वाह्यजगत में परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता। किन्तु उन वासनाओं और इच्छाओं को अपने से अलग कर सकता है। वह वाह्यजगत के प्रति अपनी मनोवृत्तियों मे इस प्रकार के परिवर्तन कर सकता है कि जिससे वह अन्य रूप धारण कर ले। वह अपने प्रति दूसरों के आचरण का सुधार नहीं कर सकता, किन्तु दूसरों के प्रति अपने व्यवहार को उचित रूप दे सकता है। वह परिस्थिति की दीवार को जिससे वह घिरा हुआ है तोड़ नहीं सकता, किंनु बुद्धि-मत्ता के साथ स्वय उसके उपयुक्त बन सकताहै। अथवा अपनी विचार क्षितिज को विस्तृत करके परि-

स्थिति को वृहत् बनाने का मार्ग पा सकता है। वस्तुयें विचारानुवर्तिनी हैं। विचारों को बदल दीजिये, पदार्थों में एक नवीन योजना का आविर्भाव हो जायेगा। ठीक प्रतिबिम्ब देने के लिये दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है। एक आच्छादित दर्पण में चित्र वृहदाकार दिखलाई पड़ता है। अशान्त मस्तिष्क से जगत का भद्दा प्रतिबिम्ब प्रदर्शित होता है। मस्तिष्क को अपने अधीन कर लो, शांत तथा सुव्यवस्थित बना लो, संसार का अधिक सुन्दर चित्र, जगत का अनोखा सौन्दर्यमय दृश्य उसका प्रतिफल होगा।

मनुष्य के मानस जगत में उसे शुद्ध तथा पूर्ण बनाने की सभी शक्तियाँ मौजूद हैं। किन्तु वे दूसरों के बाह्य मानसिक जगत के प्रति सीमित और परमुखापेक्षी हैं। जब हम यह ध्यान करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक ऐसे प्राणि तथा अप्राणि जगत में पाता है, जहां उसी प्रकार के सहस्रों अस्तित्वों के मध्य उसका भी एक अस्तित्व है तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। ये अस्तित्व स्वाधीनता तथा स्वेच्छाचारिता से कार्य नहीं करते, वरन्

सहकारिता तथा सहानुभूति से करते हैं। मेरे सहयोगी मेरे कार्यों के प्रभाव से बच नहीं सकते और वे भी उसके प्रति कर्तव्य करते रहते हैं। यदि मैं कोई ऐसा कार्य कर दूँ, जो उन्हें क्लेश-दायक है, तो वे मेरे विरुद्ध अपनी रक्षा का उपाय करेंगे। जिस प्रकार मानव शरीर कीटाणुओं को दूर करता है उसी प्रकार समाज शरीर स्वभावतः अपने विरोधी सदस्यों को निकाल फेंकता है। तुम्हारे निकृष्ट कार्य समाज शरीर में उतने ही व्रण के सदृश हैं। उन व्रणों को दूर करने मे तुम्हें दुःख तथा क्लेश होगा। यह नैतिक कार्य-कारण, भौतिक कार्य-कारण से जिनसे अशिक्षित भी परिचित हैं, भिन्न है। यह केवल उसी नियम का एक रूप है। मानव जाति की विशाल काया पर उसी का प्रयोग है। कोई कार्य पृथक नहीं होता। तुम्हारा सबसे छिपा हुआ कर्म अदृश्य रूप में प्रकट हो जाता है। उसकी उत्तमता आनंद से सुरक्षित और निकृष्टता क्लेश से विगलित होती है। इस प्राचीन कथानक में कि "जीवन की पुस्तक" नामक ग्रन्थ में प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्तियाँ तथा कार्य

अङ्कित किये जाते है और उनका निर्णय होता है, एक महान तथ्य विद्यमान है। इसका कारण यह है कि तुम्हारा कार्य केवल तुम्हीं से नही, वरन् सारी मानव जाति तथा विश्व से सम्बध रखता है। तुम अपने कार्यों का प्रतिफल दूर करने में असमर्थ हो, किंतु आन्तरिक कारणो का सशोधन तथा परिवर्तन करने के लिये तुम सर्वशक्तिसम्पन्न हो। इसका यह भी कारण है कि अपने कर्मों का सशोधन करना मनुष्योका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य तथा सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है।

तुम बाह्य पदार्थों तथा कर्मों का प्रतिरोध करने मे असमर्थ हो। इस तथ्य का मुख्य भाग यह है कि बाह्य पदार्थों और कार्यों में तुम्हे दु ख पहुँचाने की शक्ति नही है। तुम्हारे बधन और मोक्ष के कारण तुम्हारे ही अदर मौजूद हैं। * दूसरो के द्वारा जो दुःख तुम्हे प्राप्त होता है, वह तुम्हारे ही कार्य का प्रतिफल एव तुम्हारी ही मानसिक वृत्ति का प्रतिबिम्ब है। तुम्हीं उसके कारण हो। वे तो सहायक मात्र हैं। भाग्य कर्मों का परिपाक

* मन एव मनुष्याणां कारण बध मोक्षयोः।

है। प्रत्येक मनुष्य को समुचित मात्रा में जीवन के मीठे और कड़वे दोनों प्रकार के फल चखने पड़ते हैं। शुद्ध आचरण वाला मनुष्य स्वतन्त्र होता है। कोई उसे दुःख नहीं दे सकता—उसका नाश नहीं कर सकता और न उसकी शांति भङ्ग कर सकता है। सभी मनुष्यों के प्रति उसका विवेक-जन्य व्यवहार उनकी क्लेश-कारिणी शक्तियों को शिथिल कर देता है। वे उसे जो कुछ कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं, वह निष्फल होता है और उसकी प्रति क्रिया से उन्हें स्वयं दुख भोगना पड़ता है उसका शुभकर्म उसके आनंद तथा उसकी शक्ति का अविरल स्रोत है। उसकी जड़ शांति और उसका पुष्प आनंद है।

मनुष्य अपने प्रति किये गये दूसरों के कार्य तथा दोषारोपण से जो दुःख अनुभव करता है, वह उस कार्य में नहीं; वरन उसकी मानसिक प्रवृत्ति में है। क्लेश तथा दुःख अपने ही द्वारा निर्मित होते हैं। कार्यों की शक्ति वास्तविकता के सम्बंध में ज्ञान का अभाव उनके विकास का कारण है। वह समझता है कि कार्य

सदा के लिये उसके चरित्र को नष्ट-भ्रष्ट बना सकते हैं। यद्यपि कर्म इस प्रकार की शक्ति से सर्वथा शून्य है। वास्तव मे कार्य केवल कर्त्ता का ही विनाश करने की क्षमता रखता है। मनुष्य अपने को अपमानित समझ कर उद्विग्न तथा दुःखी हो उठता है और अपनी काल्पनिक हानि को मिटाने के लिये अत्यत कष्ट सहन करता है। यही दु.ख अपमान को वास्तविकता का रूप प्रदान करते हैं और उसके निर्मूल करने के स्थान पर उसकी वृद्धि में सहायक होते हैं। उसकी उद्विग्नता और अशांति कार्य ,को परिग्रहण कर लेने से उत्पन्न होती है, वस्तुत. कार्यों से उनकी उत्पत्ति नही होती। सद्धर्मपरायण मनुष्य ने इस सिद्धांत की सत्यता इस घटना से प्रमाणित कर दी है कि वही कार्य उसके भीतर उद्विग्नता नही उत्पन्न करते। वह इस तथ्य से अभिज्ञ होता है अतएव उसपर ध्यान नही देता। यह उद्विग्नता ऐसे क्षेत्र से सम्बध रखती है जिसका निवास उसने त्याग दिया है। यह अनुभूति के उस पटल का पदार्थ है जिससे उसका ससर्ग नही है। वह कार्य के

प्रभाव को अङ्गीकार नहीं करता। कारण कि अपमान के विचार का उसमें अभाव है। वह मानसिक अंधकार से जिसमें इस प्रकार के कार्यों का विकास होता है, ऊपर रहता है। जिस प्रकार एक बालक सूर्य पर पत्थर फेंक कर उसे क्लेशित तथा अपमानित नहीं कर सकता, उसी तरह वे भी उसे दुखी अथवा अपमानित नहीं कर सकते। इसी सत्य पर जोर देने के अभिप्राय से बुद्ध आजीवन अपने शिष्यों को यह उपदेश करते रहे कि जब तक मनुष्य के मस्तिष्क में इन विचारों का आविर्भाव होता है कि मुझे हानि पहुँची है, मुझे धोखा दिया गया है अथवा मैं अपमानित हुआ हूँ, तब तक उसे सत्य का बोध नहीं हुआ।

दूसरों के आचरण के साथ जो नियम काम करता है, वही बाह्य वस्तुओं, पार्श्ववर्ती पदार्थों और परिस्थितियों के सम्बध में भी लागू होता है। वे वस्तुतः उत्तम अथवा निकृष्ट नहीं होते। मानसिक प्रवृत्ति और हृदय की स्थिति ही उन्हें वैसा बनाती है। बहुत

से मनुष्य यह विचार करते हैं कि यदि मैं गार्हस्थ बंधनों में न होता, यदि मेरी बात का मानने वाला कोई होता, यदि मेरे पास धन तथा समय का अभाव न होता, यदि ये परिस्थितियाँ मेरे मार्ग में रुकावट न डालती, तो मै बड़े बड़े कार्य करके दिखला देता। वास्तव मे वह मनुष्य इन कारणों से बिल्कुल अवरुद्ध नही है। उसकी प्रकृति मे एक प्रकार की कमजोरी है, जिससे वह परिस्थियो को अजेय समझता है और इस प्रकार परिस्थितियाँ तो दूर रहती हैं, वह स्वय अपनी स्वभाव-स्थित दुर्बलता के कारण अपने मार्ग मे बाधक हो जाता है। वास्तविक अभाव जो उसकी प्रगति को अवरुद्ध करता है, वह मस्तिष्क की ठीक प्रवृत्ति का अभाव है। जब वह अपनी परिस्थितियों को अपना सहायक समझता है, जब वह देखता है कि उसकी कथित न्यूनतायें ही वे सीढ़ियाँ हैं जिन्हे पार करके वह उद्देशपूर्ति के शिखर पर सफलता-पूर्वक चढ़ सकता है, तब उसकी आवश्यकतायें आविष्कार की जननी बनती हैं। और उसकी रुकावटे सहायकों मे

परिणित हो जाती है। मनुष्य ही प्रगति का सर्वप्रधान कारण है। यदि उसका मस्तिष्क स्वस्थ्य तथा समुचित मार्ग पर है तो वह परिस्थितियों की शिकायत करेगा वरन ऊपर उठकर उनके आगे बढ़जायेगा। जो अपनी परिस्थितियों का रोना रोया करते हैं वे अभी मनुष्यता को नहीं प्राप्त हुए। आवश्यकता उनको उस समय तक चुभती और कोड़े लगाती रहेगी, जब तक वे मानवी शक्ति नहीं प्राप्त कर लेते। परिस्थिति निर्बल के लिये कष्टप्रद स्वामिनी और सबल के लिये आज्ञा-नुवर्तिनी सेविका है।

बाह्य वस्तुयें हमारे बंधन और मोक्ष की कारण नहीं हैं बल्कि उनके प्रति हमारी भावनायें हैं। हम अपने बंधन की जंजीरें स्वयं गढ़ते, स्वयं अपना कारावास बनाते और अपने को बंदी करते हैं। अथवा अपना बंधन काट देते, अपने लिये विशाल गृह बनाते एवं स्वतंत्रता से सारे दृश्यों और घटनाओं के मध्य विच-रण करते हैं। यदि मेरा यह विचार है कि मेरे पार्श्व-वर्ती पदार्थ मुझे बाँधने की शक्ति रखते हैं तो वे विचार

मुझे बन्धन में डाल रक्खेंगे। यदि मेरी धारणा ऐसी है कि मै अपने मानसिक भावो और जीवन को पाश्व-वर्त्ती पदार्थों से उच्च बना सकता हूँ तो यह धारणा मेरा बन्धन मुक्त कर देगी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारो के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना चाहिये कि वे मुझे बन्धन अथवा मोक्ष की ओर ले जा रहे हैं। और उसे उन विचारों को जो बन्धन के कारण हैं, त्याग देना चाहिये। तथा उन विचारो को स्थान देना चाहिये जो स्वतन्त्रता की ओर ले जाते हैं। यदि हम अपने सहगामियो से भयभीत होते हैं; सम्मति, निर्धनता, मित्रों की विमुखता तथा प्रभावशून्यता से आशंकित होते हैं, तो हम वास्तव में बन्धन में हैं और ज्ञानियो के आन्तरिक आनन्द तथा पवित्र विचार वालों के स्वातन्त्र्य को नहीं जान सकते। किन्तु यदि हमारे विचार शुद्ध और मुक्त हैं, यदि हम जीवन की प्रतिक्रिया और असफलता में दुःख तथा भय का कोई कारण नहीं देखते, प्रत्येक वस्तु को अपनी उन्नति के मार्ग में सहायक समझते हैं, तो हमारे जीव-

नोद्देश की सफलता में बाधा डालनेवाली कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती । और तब हम वास्तव में स्वतन्त्र हैं ।

स्वभाव: उसकी दासता तथा स्वतंत्रता

कार्य कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

गी० १३।२०।

मनुष्य स्वभाव के नियम के आधीन है। तब क्या वह स्वतंत्र है? हाँ, वह स्वतत्र है। मनुष्य ने जीवन अथवा उसके नियमों का निर्माण नहीं

थिया। थे नित्य हैं। मनुष्य अपने को उसमें फँसा हुआ पाता है। परन्तु वह उन्हें समझने तथा उनकी आज्ञा-पालन करने की क्षमता रखता है। जीवन के नियमों का निर्माण मनुष्य की शक्ति से बाहर है, पर वह उनका विवेचन कर सकता है। मनुष्य सार्वभौमिक अवस्थाओं और नियमों को अणु-मात्र भी बना नहीं सकता। ये पदार्थों के आवश्यक-तत्त्व हैं। उनका सृजन अथवा विनाश नहीं होता। मनुष्य उन नियमों का केवल अन्वेषण करता है, निर्माण नहीं करता। प्राकृतिक नियम की अनभिज्ञता ही संसार के दुःख का मूल कारण है, उनकी अवहेलना अज्ञानता तथा बंधन का कारण है। अधिक स्वतंत्र कौन है? चोर, जो अपने देश के कानून की अवहेलना करता है अथवा वह नागरिक, जो उनका पालन करता है। पुनरपि कौन अधिक स्वतंत्र है? मूर्ख, जो यह समझता है कि वह अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सकता है अथवा बुद्धिमान, जो केवल उपयुक्त कार्य करना पसंद करता है। प्रकृति रूप में मनुष्य स्वभाव-शील

प्राणी है। वह उसमें परिवर्त्तन नहीं कर सकता, किंतु अपना स्वभाव बदल सकता है। वह प्रकृति के नियम को बदल नही सकता; किंतु अपने आचरण को तदनुकूल बना सकता है। कोई मनुष्य आकर्षण शक्ति के नियम मे परिवर्तन नहीं चाहता, किंतु सब लोग अपने को उसीके अनुकूल बना लेते हैं। वे उसका उपयोग उसकी अवहेलना तथा अवज्ञा द्वारा नहीं करते, बल्कि अधीनस्थ होकर करते हैं। मान लीजिये यदि सामने दीवार पड गई, तो कोई यह समझ कर दौड़ कर न जायेगा कि उसकी आशंका से दीवाल नीचे आ जायगी—उसके लिये नियम को तबदीली हो जायगी। सब लोग दीवाल को बगल-बगल चलते हैं।

मनुष्य आकर्षण के नियम की भाँति स्वभाव के नियम का भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, किंतु उनका उपयोग कर सकता है। चाहे बुद्धिमत्ता से करे, चाहे मूर्खता से। जिस प्रकार वैज्ञानिक और आविष्कारक भौतिक शक्तियों और नियमो पर उनके आज्ञानुवर्त्ती होकर और उनका उपयोग कर आधिपत्य प्राप्त करते

हैं, उसी प्रकार विवेकपूर्ण मनुष्य आत्मिक शक्तियों और नियमों पर विजय प्राप्त करते हैं। जब कि दुर्जन अपने स्वभाव का प्रताड़ित दास है तो सज्जन उसका बुद्धिमान संचालक और स्वामी है। मैं पुनः कहता हूँ वह उनका निर्माता नहीं, और न उसका स्वेच्छाचारी शासक है। किन्तु उसका नियन्त्रित प्रयोक्ता है। आज्ञाकारिता के ज्ञान के आधार पर उसका स्वामी है। दुर्जन वह है जिसकी मानसिक प्रवृत्ति और कर्म बुरे हैं। सज्जन वह है जिसकी मानसिक प्रवृत्ति तथा कार्य उत्तम है। दुर्जन अपने स्वभाव का पुनर्गठन तथा परिवर्तन करके सज्जन बन जाता है। वह नियम नहीं बदलता; बल्कि स्वयं बदल जाता है—अपने को नियमानुकूल बना लेता है। स्वार्थ साधन की अधीनता के स्थान में वह सदाचार का आज्ञानुवर्ती बनता है। वह उन्नति की दासता स्वीकार करके निकृष्ट का स्वामी बनता है। स्वभाव का नियम वही रहता है; किन्तु वह पुनः नियमानुकूल आचरण करके दुर्जन से सज्जन बन जाता है।

स्वभाव पुनरावृत्ति है। मनुष्य उन्ही विचारों उन्हीं कार्यों एव उन्ही अनुभवो को वार वार दुहराता है। जव तक कि वे उसके अस्तित्व में मिल नही जाते और जव तक वे उसके चरित्र में उसके अङ्ग की भाँति गठित नही हो जाते। क्षमता दृढ स्वभाव है। विकास मानसिक सग्रह है। मनुष्य लाखों विचारो और कार्यों के पुनरावर्तन का परिणाम है। वह एक वारगी नही वन गया। वह विकास शील है और अव भी विकास कर रहा है। उसका चरित्र पूर्व-निर्वाचन के अनुसार गठित होता है। जिस प्रकार के विचार वह अपने लिये चुनता है, स्वभावत. वैसे ही वन जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य विचारों तथा कार्यों का सग्रह है। विशेषताये, जिन्हें मनुष्य स्वभावतः और विना श्रम व्यक्त करता है, विचारों तथा कार्यों की धाराये है जो अधिक समय तक दोहराये जाने के कारण अनिच्छित वन जाती हैं। कारण, यह स्वभाव का गुण है कि अन्ततोगत्वा

वह अनिश्चित बन जाता है और बिना किसी प्रयत्न तथा निर्वाचन के उसका पुनरावर्तन होता रहता है और समय पाकर व्यक्ति विशेष पर इस प्रकार पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है कि उसका सामना करने में उसकी इच्छाशक्ति निःशक्ति प्रतीत होने लगती है। अच्छी अथवा बुरी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों की यही दशा है। बुरे स्वभाव के प्रति कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति बुरी प्रवृति अथवा दुष्टतापूर्ण मस्तिष्क का शिकार बन गया है और अच्छे स्वभाव के वर्णन में यह कहते हैं कि स्वभावत. इसकी प्रवृत्ति उत्तम है।

सभी मनुष्य अपनी प्रकृति के आधीन हैं और सदैव रहेंगे। चाहे वे उत्तम हों अथवा निकृष्ट। अर्थात् वे अपने अभ्यासदिष्ट तथा समग्रहीत विचारों एवं कार्यों के आधीन होते हैं। विवेकी मनुष्य यह जान कर उत्तम प्रवृति के अधीन रहना पसन्द करता है। कारण, इस प्रकार की आधीनता सुख, स्वातन्त्र्य तथा आनन्द है और बुरी प्रवृत्तियों की आधी-

नता दुःख दुर्गति तथा दासता है।

स्वभाव का यह नियम लाभदायक है। कारण, यह मनुष्य को दासत्व की जजीरों में बँधजाने के योग्य बनाता है। यह उसे उत्तम आचरणों में इतना स्थिर बना देता है कि वह अज्ञात तथा अनिच्छित रूप से किसी प्रकार की प्रेरणा तथा परिश्रम बिना सानन्द और स्वाधीनता से उत्तम कर्म कर सकता है। जीवन में इस स्वयं परिचालित कर्मण्यता का निरीक्षण करके कुछ लोग मनुष्य में इच्छा तथा स्वाधीनता के अस्तित्व का अभाव मानते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जन्म से उत्तम अथवा निकृष्ट होता है और वह अन्धशक्तियों का औजार है।

यह सत्य है कि मनुष्य मानसिक शक्तियों के औज़ार हैं और यह सत्य के अधिक निकट है कि वे स्वय वही शक्तियाँ हैं। किन्तु वे शक्तियाँ अन्ध नही हैं। वह उनका नये मार्ग में सञ्चालन तथा पुनर्सञ्चालन कर सकता है। थोडे शब्दों में वह अपना निर्माण कार्य हाथ में ले सकता है और अपने स्वभाव

का पुनर्गठन कर सकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि वह एक विशेष चरित्र के साथ उत्पन्न होता है; किन्तु चरित्र अगणित जन्मों का प्रति फल है, जिनमें वह शनैः शनैः श्रम तथा निर्वाचन द्वारा उत्पन्न हुआ है और इस जीवन में यह नये अनुभवों द्वारा अत्यधिक परिवर्तित हो जायगा।

दुष्ट प्रकृति अथवा दुश्चरित्रता के अत्याचार से कोई मनुष्य प्रकट में कितना ही निस्सहाय क्यों न हो गया हो, वह मस्तिष्क के शुद्ध रहने की अवस्था में उसके स्थान में उत्तम प्रकृति का समावेश करके उससे विलग हो सकता है और स्वाधीन बन सकता है। जब उत्तम स्वभाव उस पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार कि पहिले निकृष्ट स्वभाव किये हुये थे, तो उत्तम स्वभावों से भागने की न तो उसे इच्छा होगी और न आवश्यकता ही रहेगी, क्योंकि उसका आधिपत्य नित्यानन्द है न कि अमिट क्लेश।

मनुष्य अपने भीतर जिस वस्तु का निर्माण करता है, उसे स्वेच्छा तथा भावना से तोड़ सकता है और

पुनः निर्मित कर सकता है। मनुष्य उस समय तक बुरे स्वभाव के परित्याग की आकाँक्षा नहीं करता, जब तक वह उसे आनन्द-प्रद समझता है। जब उसका अत्याचार दुखदाई हो जाता है, तब कहीं वह उससे परित्राण पाने का उपाय सोचता है और अन्ततोगत्वा बुराई को भलाई के लिये त्याग देता है।

कोई मनुष्य असहाय रूप में बद्ध नहीं है। वही नियम जिससे वह स्वनिर्मित दास बन गया है, निज बन्धन मोचक स्वामी बनने की योग्यता प्रदान करेगा। इस ज्ञान के लिये उसे तदनुसार कार्य करना चाहिये। उसे केवल कार्य में परिणत करने की आवश्यकता है। अर्थात् उसे मनः प्रवृत्ति और आचरण की प्राचीन-धारा विचार-पूर्वक तथा सपरिश्रम त्यागना होगा और नवीन तथा उत्तम कार्य शैली का निर्माण करना होगा। यदि, वह अपना उद्देश एक दिन, एक सप्ताह, एक मास, एक वर्ष अथवा पाँच वर्ष में पूरा न कर सके तो उसे निरुत्साह तथा भयभीत न होना चाहिये। नवीन पुनरावृत्तियों को सुदृढ होने तथा

प्राचीन धाराओं के टूटने के लिये समय की आवश्यकता है। किन्तु स्वभाव का नियम निश्चित तथा अव्यर्थ है। शान्ति से सचालित श्रम की अक्षुण्ण-धारा अवश्यमेव सफलता का साम्राज्य प्राप्त करेगी। कारण, यदि एक दुर्वृत्ति जो अभाव-मात्र है, दृढ़ता से आरोपित हो सकती है तो यह अत्यधिक निश्चय है कि सद्वृत्ति जो निर्णीत तत्त्व है, अधिक दृढ़स्थित तथा शक्ति शालिनी होगी। मनुष्य उस समय तक अपने बुरे तथा दुखद तत्वों पर विजय प्राप्त करने में अशक्त है, जब तक वह अपने को नि:शक्त समझता है। यदि बुरे स्वभाव के साथ यह विचार सन्निहित होता है कि "मैं असमर्थ हूँ" तो बुरा स्वभाव बना रह जाता है। जब तक मस्तिष्क से असमर्थता का भाव खोद कर निकाल नहीं दिया जाता, तब तक किसी वस्तु पर विजय नहीं प्राप्त हो सकती। प्रकृति, स्वयं मार्ग रोकने की चट्टान नहीं है; किन्तु विजय प्राप्ति के असम्भव होने का विश्वास ही वह चट्टान है। किस प्रकार मनुष्य बुरी प्रकृति पर उस समय

तक विजय प्राप्त कर सकता है, जब तक उसका विश्वास है कि वह असम्भव है। किस प्रकार कोई मनुष्य विजय प्राप्त करने से रोका जा सकता है, जब उसकी धारणा होती है कि ऐसा हो सकता है और उसे करने के लिये वह तत्पर होता है। वह प्रबल विचार जिससे कि मनुष्य ने अपने को बन्धन में डाल रक्खा है, यह भावना है कि "मै अपने पापो को अधीनस्थ नहीं कर सकता।" इस विचार को इसके नग्न रूप में प्रकाश में लाइये तो दृष्टि गोचर होगा कि इसका एक सिरा बुराई की शक्ति में अविश्वास और दूसरा सिरा अच्छाई की शक्ति मे अविश्वास है। एक मनुष्य के लिये इस प्रकार कहना अथवा विश्वास करना कि वह "दुर्विचारो अथवा दुष्कर्मों के ऊपर नहीं उठ सकता" बुराई की अधीनता स्वीकार करना और अच्छाई को तिलाञ्जलि देना है।

इस प्रकार के विचारो तथा भावनाओं से मनुष्य बन्धन में पड़ता है। उनके प्रतिकूल विचारो तथा भावनाओ से वह स्वाधीन बनता है। मस्तिष्क की

परिवर्तित धारणा चरित्र, स्वभाव तथा जीवन को बदल देती है। मनुष्य स्वय अपना उद्धारक है। उसने अपने दासत्व का सृजन किया है। वह स्वयं अपना स्वातन्त्र्य लाभ कर सकता है। जन्म-जन्मान्तर में वह बाह्य उद्धारक की तलाश में था और अब भी तलाश में है; पर अभी तक वन्धन में पड़ा है। महान उद्धारक उसी के भीतर है और वह है– सत्य का आत्मा। सत्य का आत्मा उत्तमत्ता का भी आत्मा है और उसका निवास सत्य की आत्मा में है, जो स्वभावत. उत्तम विचारों एव कार्यों में वास करता है।

मनुष्य अपने दुर्विचारों के अतिरिक्त और किसी शक्ति के बन्धन में नही है। उनसे वह स्वतन्त्र हो सकता है। उसे सर्व प्रथम जिन वन्धन विधायक कार्यों से मुक्त होने की आवश्यकता है, वे निम्नलिखित हैं—"मैं ऊँचा नहीं उठ सकता, मै बुरे स्वभावों का बन्धन नहीं तोड़ सकता, मैं अपनी प्रकृति में परिवर्तन नहीं कर सकता, मैं आत्म-सयम अथवा

आत्म-विजय नहीं प्राप्त कर सकता, मै पापो से मुक्त नही हो सकता ।" इन सारी असमर्थताओं का वस्तु-स्थिति में जिससे वे सयोजित हैं, कोई अस्तित्व नहीं है । इस प्रकार के निषेधात्मक भाव वस्तुत. दुविचार-पूर्ण स्वभाव हैं, जिनका निराकरण करना और उनके स्थान में "निश्चयात्मक मै समर्थ हूँ" की भावना का आरोप करना आवश्यकीय है। और उसे यहाँ तक अभिसिञ्चित तथा पल्लवित करना चाहिये कि वह स्वभाव का सुदृढ़ वृक्ष बन कर शुद्ध तथा आनन्दमय जीवन का उत्तम एव प्राणवर्द्धक फल देने लगे ।

स्वभाव बन्धन मे डालता है । स्वभाव ही स्वतन्त्र करता है । प्रधान रूप से स्वभाव विचारो मे और गौणरूप से कार्यों मे स्थित है । अच्छाई से बुराई की ओर विचारो को सञ्चालित करो, कर्म तत्क्षण उसका अनुसरण करेगा । बुराई मे फँसे रहो, तुम्हारा बन्धन अधिकाधिक दृढ़ होता जायगा । अच्छाई में प्रवृत्त रहो वह तुम्हें स्वाधीनता के सदा विस्तृत

होने वाले क्षेत्र की ओर ले जायगा। जो अपने बन्धन से प्रेम करता है, उसे बन्धन में रहने दो और जो स्वतन्त्रता का प्यासा है, उसे प्रविष्ट तथा मुक्त होने दो।

शारीरिक दशायें

शरीर की आरोग्यता के लिये आज अनेक विभिन्न पद्धतियाँ मौजूद हैं। इससे शारीरिक रोग की अधिकता स्पष्ट है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक रोगों को दूर करने में लगे हुये सैकड़ों धर्मों (हिन्दू, मुसलिम, ईसाई इत्यादि) से मानसिक रोग की व्यापकता सिद्ध है। कारण, रोग निवारण की इन

समस्त पद्धतियों के होते हुये भी रोग तथा क्लेश हमारे साथ उसी प्रकार स्थित हैं—जिस तरह अनेक धर्मों के होते हुए भी पाप और दुःख विद्यमान हैं।

रोग तथा पीड़ायें पाप और दुःख की भाँति इतनी दृढ़ स्थित होती हैं कि सुस्वादु औषधि से दूर नहीं की जा सकतीं। हमारे रोगों का एक नैतिक कारण है, जो मस्तिष्क में दृढ़ता से स्थित होता है। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भौतिक अवस्थाओं से रोग का कोई सम्बन्ध नहीं। वे कार्य कारण की शृङ्खला में प्रतिनिधि तथा सहायक के रूप में आवश्यक भाग लेती हैं। रोग शारीरिक अवस्था के कारण उत्पन्न होते हैं; किन्तु शारीरिक अवस्था का कारण मन है। यह एक नैतिक रोग है। दृष्टि गोचर पदार्थ, मन है। शारीरिक संघर्ष जिसे हम रोग कहते हैं, मानसिक अशान्ति से जो पाप की सहगामिनी है, कार्य कारण सम्बन्ध रखता है। मनुष्य के मनमें विभिन्न वासनाओं का संघर्ष निरंतर होता रहता है और परिणाम-स्वरूप उसका मन अशान्त एवं

शरीर व्यथा-मय होता जाता है। परन्तु प्रारम्भिक तथा जगली अवस्था मे रोग से मुक्त होते हैं। कारण, उनके मनमे अशान्ति नहीं होती। वे अपने पार्श्ववर्ती वातावरण के अनुकूल हैं। उन्हें आचारिक उत्तरदायित्व नहीं है और न पाप का ज्ञान है। वे व्यथा, दुःख, निरुत्साहता आदि के (जो मनुष्य के सामञ्जस्य तथा आनन्द के इस प्रकार विनाशक हैं, सबल सघर्ष से मुक्त हैं और उनके शरीर क्लेशित नहीं हैं। जैसे-जैसे मनुष्य स्वर्गीय तथा व्यवस्थित-अनुभूति की दशा प्राप्त करता जायगा, वैसे-वैसे वह अपने पीछे तथा नीचे इन आन्तरिक युद्धों को छोडता, सभी पापों तथा पाप की वासनाओं पर विजय प्राप्त करता और दु.ख तथा क्लेश को दूर करता जायगा। इस प्रकार मानसिक सामञ्जस्य प्राप्त करके वह शारीरिक सामञ्जस्य, पूर्णता और स्वास्थ्य लाभ करेगा।

शरीर मस्तिष्क का प्रति रूप है। और इसमे छिपे विचारों के दृश्य रूप का पता लग जाता है। बाह्य, आभ्यन्तर का आज्ञाकारी है। मन की भावना

आकृति पर स्पष्ट व्यक्त हो जाती है और भविष्य के प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक प्रत्येक शारीरिक अव्यवस्था का मानस शरीर-स्थित नैतिक कारण खोज निकालने में समर्थ हो जावेंगे।

मानसिक शान्ति एवं सदाचार की पूर्णता ही से शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। परन्तु सदाचार का प्रभाव शरीर पर धीरे-धीरे पड़ता है। वह कोई जादू नहीं है और न बोतल की दवा है कि पी ले और फौरन रोग-मुक्त हो जाय। किन्तु, यदि मन अधिक शान्त और स्वस्थ्य हो रहा है, यदि आचार—शरीर वृद्धि पा रहा है, तो शारीरिक स्वस्थता की एक दृढ़ आधार-शिला निर्माण की जा रही है और शक्तियों का एकत्री करण हो रहा है। उनका समुचित सञ्चा-लन तथा सघटन किया जा रहा है। यदि पूर्ण स्वस्थ्यता नहीं प्राप्त हुई तो भी शारीरिक अव्य-वस्था चाहे जिस प्रकार की हो, शक्तिराजी तथा उन्नत मनको क्षीण करने का सामर्थ्य खो बैठेगी।

वह मनुष्य जिसका शरीर रोगी है, अवश्यमेव

उसी क्षण स्वस्थ नही हो जाता, जिस क्षण वह नैतिक तथा सुव्यवस्थित नियमों के अधार पर अपने मन का निर्माण आरम्भ करता है। वास्तव में कुछ समय के लिये जब शरीर व्याधि-सीमा को प्राप्त तथा पूर्व-निस्स्वरता के प्रभाव को निर्मूल कर रहा है, रोग की दशा भयकर प्रतीत हो सकती है । जैसे कोई मनुष्य उत्तम मार्ग पर पग रखने के साथ ही पूर्ण-शान्ति नहीं प्राप्त कर लेता, किन्तु विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त उसे सुसघटन के दुष्काल को पार करना आवश्यक होता है ; वैसे ही वह उन्ही विशेष दशाओं के अतिरिक्त उसी क्षण पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त नहीं करता। शारीरिक एव मानसिक सघटन के लिए समय की आवश्यकता है।

यदि, मन सुदृढ़ बन जाये तो शारीरिक अवस्था को एक अप्रधान और अधीनस्थ स्थान प्राप्त होगा और वह अपनी महत्ता, जो प्राय. लोग उसे दिया करते हैं, खो बैठेगी । यदि कोई अव्यवस्था दूर नहीं होती, तो भी मस्तिष्क उससे ऊपर उठ सकता है

और उससे दबना अस्वीकार कर सकता है। मनुष्य उस स्थिति में भी सानन्द, सुदृढ़ तथा लाभदायक बन सकता है। स्वास्थ्यविद्याविशेषज्ञों का बहुधा यह कथन है कि शारीरिक स्वास्थ्य बिना लाभदायक तथा सुखमय जीवन असम्भव है। उनके इस कथन-की असत्यता इस घटना से प्रमाणित होती है कि बहुत से ऐसे मनुष्य जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ कार्य्य सम्पादन किये हैं, (अर्थात् सब विभागों के श्रेष्ठ तथा प्रति-भाशाली व्यक्ति) शरीर से रोगी थे। और आज भी इस घटना के बहुत से जीवित साक्षी मौजूद हैं। किसी-किसी समय शारीरिक क्लेश मानसिक कार्य तत्परता को उत्तेजित करता है और उसके कार्य में अवरो-धक होने के स्थान में सहायक होता है। लाभदा-यक तथा सुखमय जीवन को स्वास्थ्य पर अवलम्बित करना प्रकृति को भ्रम से अग्र स्थान देना है। आत्मा को देह के अधीन करना है।

सुदृढ़ मस्तिष्क वाले मनुष्य शारीरिक अवस्था पर चाहे वह किसी प्रकार अव्यवस्थित भी हो, ध्यान

नहीं देते। वे इस पर विचार नहीं करते और इस तरह कार्य करते तथा जीवित रहते हैं मानों उसका अस्तित्व ही नहीं है। शरीर की इस प्रकार की अवहेलना मस्तिष्क को केवल सुस्थ एवं सुदृढ़ ही नहीं बनाती, किन्तु शरीर को निरोग करने का सर्वोत्तम साधन प्रस्तुत करती है। यदि हम अपने शरीर को पूर्णतया स्वस्थ्य नहीं बना सकते, तो हमारा मन स्वस्थ्य हो सकता है और स्वस्थ्य मन शरीर की आरोग्यता का सर्वोत्तम मार्ग है।

रोगी मन अव्यवस्थित शरीर की अपेक्षा अधिक दयनीय है। कारण, यह शरीर को भी रोगी बना देता है। मानसिक रोगी शारीरिक रोगी की अपेक्षा अत्यधिक चिन्ताजनक दशा में है। प्रत्येक वैद्य या डाक्टर इससे अभिज्ञ है कि बहुत से रोगी ऐसे हैं, जिन्हें स्वस्थ्य तथा उपयुक्त शरीर प्राप्त करने के लिये केवल अपने मस्तिष्क के गठन को सुदृढ़, निस्वार्थ तथा आनन्द-पूर्ण बनाने को आवश्यकता है।

सभी प्राणियों को जो 'मनुष्य' नाम से पुकारे

जाते हैं, अपनी आत्मा के प्रति, अपने शरीर तथा भोजन के प्रति, अस्वस्थ्यता के भावों को त्याग देना चाहिये। जिस मनुष्य की यह धारणा है कि जो स्वास्थ्यवर्द्धक अन्न वह खा रहा है, उसे हानिकारक सिद्ध होगा, उसे मानसिक शक्ति द्वारा शारीरिक ओज प्राप्त करना आवश्यक है। मनुष्य का अपना स्वास्थ्य और उसकी रक्षा का उपाय; विशेष प्रकार के खाद्य पदार्थ पर (जो लगभग सभी घरों में दुष्प्राप्य है) निर्भर समझना शारीरिक बीमारी को बुलाना है। जिस शाकाहारी का यह कथन है कि "उसे आलू खाने का साहस नहीं होता, फल मन्दाग्नि उत्पन्न करता है, सेवों से आम्लपित्त बनता है, दाल विष है, उसे हरी तरकारियो से भय लगता है आदि आदि" वह उस सदुद्देश को जिसके समर्थन का वह दम भरता है—आचार-भ्रष्ट कर रहा है और उसे उन सुदृढ मासां-हारियों की आँखों में जो इस प्रकार के रोग, भय तथा रुज-ग्रस्त आत्म-निरीक्षण से परे है, हास्यास्पद बना रहा है। ऐसी धारणा करना कि भूमि के फल

यद्यपि वे क्षुधा तथा भोजन की आवश्यकता के समय खाये गये हैं, स्वास्थ्य तथा जीवन के विनाशक सिद्ध होंगे, खाद्य पदार्थ की प्रकृति तथा उसके उपयोग को पूर्णतया मिथ्या समझना है। खाद्य पदार्थ का कार्य शरीर की रक्षा तथा उसे जीवित रखना है, न कि उसको क्षीण तथा विनष्ट करना। बहुत से मनुष्यों पर जो खाद्यपदार्थों से स्वास्थ्य लाभ करने की खोज में हैं, यह विचित्र भ्रम अधिकार जमाये है कि कुछ अत्यन्त सादे तथा प्राकृतिक और शुद्ध फल वस्तुतः विकारपूर्ण हैं, उनमें जीवन का कोई तत्व नही है। वे मृत्यु के तत्वों से परिपूर्ण हैं। शरीर पर इस विचित्र भ्रम की हानिकारक प्रतिक्रिया अनिवार्य है। इन भोजन के सुधार करने वालों में से एक आदमी ने मुझसे कहा कि उसका विश्वास है कि उसका अमुक रोग एव सहस्रों अन्य मनुष्यो का रोग रोटी खाने से उत्पन्न हुआ है। रोटी की अधिकता के कारण नहीं—वरन्, रोटी ही से रोग की उत्पत्ति है; तो भी इस मनुष्य का भोजन गृह निर्मित नारि

केलिकी रोटियों से परिपूर्ण था। हमें इस प्रकार के निर्दोष कारणों से रोगो की उत्पत्ति मानने के पूर्व अपने पापों, रुग्नग्रस्त विचारों, तथा मूर्खता पूर्ण अधिकताओ को त्याग देना चाहिए। व्यक्ति विशेष का अपनी तुच्छ कठिनाइयो तथा रोगों का वर्णन चरित्र की दुर्बलता का प्रदर्शन है। इस प्रकार उनके प्रति विचार करना बहुधा उनके सम्बन्ध में वार्तालाप करने का कारण बन जाता है। और यह वार्तालाप अपनी बारी पर उन्हें मस्तिष्क पर अधिक विस्तृत रूप में अङ्कित करता है, जो शीघ्र इस प्रकार की दयाद्रता तथा प्रेम-प्रदर्शन से आचार-भ्रष्ट हो जाता है। स्वास्थ्य तथा आनन्द के सम्बन्ध में विचार तथा वार्तालाप करना उतनाही सहज है, जितना कि क्लेश तथा रोग के सम्बन्ध में—अपितु अधिक आनन्द-प्रद एव लाभदायक है।

"आओ हमलोग प्रसन्नता पूर्वक रहें। जो हमलोगों से घृणा करते हैं, उनके साथ घृणा न करें। उन आदमियों के मध्य में जो हमसे द्वेष करते हैं,

हमलोग द्वेष-रहित होकर रहें। दुःखी मनुष्यों के साथ रह कर भी हम दु.खो को सर्वथा भूल जायँ और लोभियों तथा लोलुपों के साथ भी हम तृष्णा तथा लोलुपता से रहित होकर प्रसन्नता पूर्वक रहें।"

आचारिक नियम स्वास्थ्य एव आनन्द की आधार शिलायें हैं। वे आचरण के सच्चे सुधारक हैं और जीवन का प्रत्येक विषय उनके अन्तर्गत है। जब तत्परता से उनका ग्रहण और बुद्धिमत्ता से उनका मनन किया जाता है, तब वे मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण जीवन चर्य्या का सशोधन करने के लिये वाध्य करते हैं। .वे व्यक्ति विशेष के भोज्य-पदार्थों का सुधार करते हैं और घृणा-भाव दूर करके खाद्य पदार्थों के प्रति भय तथा मूर्खता-पूर्ण भावनाओं और उनके हानिकारक होने के सम्बन्ध में निराधार सम्मतियों का अन्त कर देते हैं। जब उत्तम आचारिक स्वास्थ्य आसक्ति तथा भीरुता का उन्मूलन करता है, तब प्राकृतिक भोज्य-पदार्थ अपने सच्चे रूप में शरीर का पोषक, न कि सहारक प्रतीत होता है।

इस प्रकार शारीरिक दशाओं का मनन हमें हठात् मस्तिष्क तथा उन आचारिक गुणों की ओर जो उसे अजेय सरलता का कवच पहनाते हैं, पुनः खींच लाता है। जिनका आचार उत्तम है, उनका शरीर भी उत्तम है। बिना किसी निश्चित सिद्धान्त के क्षणिक सम्मितियों तथा विचारों के कारण जीवन के पुरोगम में परिवर्तन करना अनिश्चितता के गर्त में पड़ना है। किन्तु शारीरिक पुरोगम को आचारिक सिद्धान्तों से नियन्त्रित करना समस्त विस्तार को उसके उचित स्थान पर तथा सुव्यवस्थित देखना है। कारण, आचारिक व्यवस्था के निदर्शन का अधिकार केवल आचारिक सिद्धान्तों को प्राप्त है। यह उनका वैयक्तिक क्षेत्र है। केवल उन्हीं में कारणों के अनुसंधान करने की अन्तर्दृष्टि सन्निहित है और केवल उन्हीं में समस्त विस्तारों को उनके निर्दिष्ट स्थान पर स्थित होने के लिये वाध्य करने की शक्ति है; जो उसी प्रकार काम करती है, जैसे चुम्बक पत्थर लोह-दण्ड को खींचता तथा पूर्वाभिमुख बना देता है।

शारीरिक रोग दूर करने की अपेक्षा यह उत्तम है कि इसके विषय में सोच-सोच कर कुण्ठित न हुआ जाय और इसका स्वामी बना जाय। शरीर को सद्-गुण से अधिक महत्ता देने की आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता है उसके आनन्द को नियन्त्रित तथा सयमित करने और उसे क्लेश से विगलित न होने देने की। निरोग होने की अपेक्षा नैतिक शक्ति सचय लाभदायक है और निश्चय ही उससे रोगों का भी उन्मूलन होगा तथा मानसिक शक्ति एव आत्मिक शान्ति की वृद्धि भी होगी।

दरिद्रता

बहुत से महान पुरुषों ने सभी काल में अपने उन्नत उद्देशों की पूर्ति के निमित्त दारिद्र्यव्रत ग्रहण किया है। तब किस कारण से दरिद्रता इतनी भयावह प्रतीत होती है। इसका क्या कारण है कि दरिद्रता, जिसे इन महान पुरुषों ने ईश्वरीय विभूति समझा है और अपनी अर्द्धांगिनी बनाया है, मानव

जाति के अधिकतर लोगो द्वारा विभीषिका तथा सका-मक मानी जाती है ? उत्तर स्पष्ट है। एक दशा मे दरिद्रता का मन की उदारता से संयोग होता है जो उसके प्रकट दुर्गुणो को दूर कर ही देती है, साथ ही उसे ऊपर उठा उसमें उत्तमता और सुन्दरता का समावेश कर ऐश्वर्य एव प्रतिष्ठा से भी अधिक चित्ता-कर्षक बना देती है। यहाँ तक कि उन महान त्यागी भिखारियो के आनन्दमय एव गौरवपूर्ण जीवन को देखकर सहस्रो नर नारी उनकी जीवनचर्या अङ्गी-कार करते तथा उनका अनुसरण करते हैं। दूसरी दशा में बड़े बड़े नगरो की दरिद्रता है, जिसका सयोग सौगन्धि, मदिरापान, गन्दगी, अकर्मण्यता, बेई-मानी तथा अपराध आदि निकृष्ट तथा घृणोत्पादक वस्तुओं से है। तब प्रधान दुर्गुण क्या है ? दरिद्रय अथवा पाप। इसका यह उत्तर अनिवार्य है कि यह पाप है। दरिद्रता से पाप को पृथक कर देने पर उसका डङ्क नष्ट हो जाता है, उसका दुर्गुण जो पर्वताकार प्रतीत होता था, निर्मूल हो जाता है

और उससे उत्तम एवं उदार-परिणाम भी प्राप्त किया जा सकता है। महात्मा कनफ्यूशियस अपने निर्धन शिष्यों में से 'येनहुई' नामक एक शिष्य को धनी शिष्यों के सम्मुख उदात्त सद्‌गुण के उदाहरण में प्रस्तुत करता था। यद्यपि वह इतना निर्धन था कि उसे चावल तथा पानी पर अपना जीवन निर्वाह करना पड़ता था और उसके पास गुफा से बढ़ कर कोई रहा स्थान नहीं था; तो भी वह असन्तोष नहीं प्रकट करता था। जिस अवस्था में यह निर्धनता दूसरे मनुष्यो को असन्तुष्ट तथा दलित बना देती है, उस अवस्था में भी उसने अपनी मनःशान्ति विचलित नहीं होने दी। दारिद्र्य उदार चरित्र को निर्बल नहीं बना सकता, किन्तु वह इसे अधिक लाभदायक बना सकता है। 'येन हुई' के ये सद्‌गुण विरोधी पश्चात् भूमि में जड़े हुए प्रकाशमान रत्नो के सदृश दरिद्रता में स्थित होने के कारण अधिक प्रकाश फेंकते थे।

समाज सुधारकों में निर्धनता को पाप की सह-गामिनी मानने तथा उसे पापों का कारण बतलाने

की प्रथा चल पड़ी है। और वे ही सुधारक यह भी कहते हैं कि धनवानो के अनाचार का कारण उनकी संपदा ही है। जहाँ कारण होता है वहाँ कार्य्य अवश्य प्रकट होता है। यदि, ऐश्वर्य अनाचार का तथा दरिद्रता पतन का कारण होती, तो प्रत्येक धनिक आचार भ्रष्ट और प्रत्येक दरिद्र पतित बन जाता।

एक दुष्ट प्रत्येक स्थिति में दुष्कर्म करेगा। चाहे वह धनिक हो अथवा निर्धन, अथवा दोनो दशाओं के मध्य में स्थित हो। इसके विपरीत एक सज्जन वह चाहे जिस स्थित मे हो, उत्तम कर्म ही करेगा। अति क्लिष्ट परिस्थितियाँ दुर्गुणो को जो समय की प्रतीक्षा में पहले ही से स्थित है, बाहर प्रकट कर देगीं, किन्तु वे दुर्गुणो को उत्पन्न नही कर सकती और न उनकी सृष्टि करा सकती है।

आर्थिक अवस्था से असन्तोष तथा दरिद्रता एक ही वस्तु नहीं है। बहुत से मनुष्य जिनकी आय प्रति वर्ष कई शत और कुछ दशाओ मे कई सहस्र मुद्रायें हैं तथा उत्तरदायित्व अत्यन्त न्यून है, अपने को निर्धन

समझते हैं। उनकी धारणा है कि उनकी व्यथा निर्धनता है, जब कि उनकी वास्तविक व्यथा तृष्णा है। वे निर्धनता के कारण दुखी नहीं है, किन्तु धन की पिपासा के कारण दुखी हैं। दरिद्रता बहुधा धन की अपेक्षा मनमें होती है। जब तक मनुष्य को धन की तृष्णा होती है, वह अपने को दरिद्र समझेगा और इस अर्थ में वह दरिद्र है। कारण, तृष्णा मनकी निर्धनता है। कजूस आदमी लखपती ही क्यों न हो, वह उतना ही दरिद्र है जितना निर्धन होने पर था।

इसके प्रतिकूल बहुत से मनुष्यों के मार्ग में जो पतन और दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, यह कठिनाई है कि वे अपनी दशा से सन्तुष्ट हैं। जो अपवित्र है, अव्यवस्थित है, अकर्मण्य हैं, सुअर की तरह आत्मासक्ति में लीन हैं, कुत्सित विचार के हैं, अश्लील शब्द बोलते है, गन्दे वातावरण में रहते हैं, फिर भी अपनी स्थिति में सन्तुष्ट हैं, वे अवश्य ही दयनीय है। इस स्थल पर पुन दरिद्रता मानसिक दशा में परिणत होती है और प्रश्न के रूप में उसका

समाधान व्यक्ति विशेष की आन्तरिक उन्नति में, न न वाह्य स्थिति में प्राप्त हो सकता है। किसी मनुष्य का अन्तस्तल स्वच्छ तथा क्रियाशील बन जाने दो, वह वाह्य अशुचि तथा पतन से क्षण भर भी सन्तुष्ट न रह सकेगा। मनके सुव्यवस्थित होने पर वह घर को भी सुव्यवस्थित बना लेगा और तब सब लोगों को मालूम हो जायगा कि उसने अपने पार्श्ववर्त्ती पदार्थों को सुव्यवस्थित बना लिया है और उत्तम बन गया है। उसका परिवर्तित जीवन उसके आन्तरिक परिवर्तन का द्योतक है।

वस्तुत: ऐसे भी लोग हैं जो न तो मोह ग्रस्त हैं और न पतित, परन्तु निर्धन हैं। इस प्रकार के बहुत से प्राणी निर्धन रहने ही मे सन्तुष्ट है। वे सन्तुष्ट, कर्मशील तथा सुखी हैं। और उन्हें किसी वस्तु की अकांक्षा नहीं है। किन्तु उनमें जो असन्तुष्ट हैं, उन्नत वातावरण और सयोग के आकांक्षी हैं, उन्हें अपनी निर्धनता से अपनी वुद्धि तथा शक्ति के प्रयोग में प्रोत्साहक का काम लेना चाहिये और साधारणतया

वे ऐसा करते भी हैं। आत्मोन्नति तथा कर्त्तव्य-परायणता से वे अधिक पूर्ण तथा उत्तरदायी जीवन, जिसकी उन्हें अकांक्षा है, प्राप्त कर सकते हैं।

कर्त्तव्य परायणता केवल उस निर्धनता से जो अवरोधक समझी जाती है, छुटकारा पाने का साधन ही नहीं है; वरन वह ऐश्वर्य, प्रभाव, स्थायी आनन्द एवं परम-पद का भी राज-मार्ग है। जब इस प्रकार का गूढ़ार्थ समझ में आ जाता है, तब यह विदित होता है कि जीवन को सर्वोत्कृष्ट तथा महान वस्तुओं से उनका सम्बन्ध है। इसमें शक्ति, अध्यवसाय, जीवन के व्यवसाय के प्रति अविचल ध्यान, उद्देश की एकता, साहस, विश्वासपरता, दृढ़ निश्चय, आत्म-निर्भरता और वह आत्म-निग्रह जो समस्त वास्तविक महानता की कुञ्जी है, सम्मिलित है। एक अत्यन्त सफल प्राणी से एक-बार यह प्रश्न किया गया कि तुम्हारी सफलता का क्या रहस्य है? उसने उत्तर दिया कि "प्रातःकाल ६ बजे उठना और अपने व्यवसाय में लग जाना।" सफलता, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव, सदा उस मनुष्य के वश-

वर्त्ती हैं, जो अपने जीवन के व्यवसाय में सदा श्रमशील रहता और दूसरों के कर्त्तव्य में बाधा डालने से बचना अपना धर्म समझता है।

यहाँ ऐसा कहा जा सकता है और प्रायः कहा जाता है कि निर्धनों मिलो और फैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरो की अधिक सख्या को विशेष कार्यों के सीखने के लिये समय तथा अवसर नहीं प्राप्त होता। यह एक भ्रम है। समय तथा अवसर सदैव सब काल प्रत्येक व्यक्ति के हस्तगत रहते हैं। उपर्युक्त दीन जन जो अपने स्थान पर रहने में सन्तुष्ट हैं सदैव अपनी फैक्टरी के कामो में श्रमशील और अपने घरों में स्थिरमति तथा प्रसन्नचित रह सकते है। किन्तु जिनको यह धारणा है कि वे अन्यत्र अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकने हे, वे अपने अवकाश समय में शिक्षा प्राप्त करके उस कार्य के योग्य बन सकते हैं। अधिक श्रमित दीन जन ही वे व्यक्ति हैं, जिन्हें सर्वोपरि अपने समय तथा शक्ति की मितव्ययता की अधिक आवश्यकता है। और उन युवको को जो इस निर्धनता से ऊपर उठने

की आकांक्षा रखते हैं, आरम्भ में ही मदिरा की मूर्खतापूर्ण तथा नाशकारी आसक्ति, तम्बाकू, स्त्री पुंस दुर्गुण, नाच घरों, प्रमोदमय स्थलों तथा द्यूत सघों को त्याग देना चाहिये और उन्हें अपना सध्या समय उस शिक्षा-पद्धति द्वारा जो उसके उत्थान के लिये आवश्यक है, अपने मस्तिष्क की उन्नति में व्यय करना चाहिये। इतिहास बतलाता है कि अनेक प्रभावशाली मनुष्य जिनमें से कुछ की गणना महापुरुषों में की जाती है—साधारण निर्धनता से अपने को ऊँचा उठा लिये हैं। इस घटना से सिद्ध होता है कि आवश्यकता का काल अवसर प्राप्ति का काल है; न कि अवसर विनाश का। जैसा कि बहुधा निर्धारित तथा घोषित किया जाता है। जो अपनी स्थिति से असन्तुष्ट और उत्थान के लिये साकांक्ष्य है, उसके लिये निर्धनता का गर्त जितना ही गहरा होता है, उतना ही उसमें कार्य की उत्तेजना अधिक होती है। जो मनुष्य निर्धनता के गर्त में पड़ा है, उसके चरित्र तथा मानसिक दशा के अनुसार ही दरिद्रता दुर्गुण

अथवा सद्‌गुण है। उसी प्रकार धन भी सद्‌गुण अथवा दुर्गुण है। टालस्टाय अपनी ऐश्वर्यपूर्ण स्थितियों में दुःखित था उसके लिये वे महान दुर्गुण थी। उसे निर्धनता की उसी प्रकार अकाँचा रहती थी, जिस प्रकार लालची द्रव्य की अकाँचा रखता है। किन्तु पार सर्वथा दुर्गुण है। कारण, वह पापी का पतन करता है और समाज के लिये भय-प्रद है।

दरिद्रता का वैज्ञानिक तथा विशद अध्ययन सर्वदा व्यक्ति विशेष तथा मनुष्य के हृदय के सन्निकट पहुँचा देता है। जब कि हमारे समाज सुधारक दुर्गुण का उसी प्रकार खण्डन करते हैं, जिस प्रकार अब वे धन का खण्डन करते हैं, जब वे हानि कारक जीवन-चर्या का अन्त करने के लिये उतने ही उत्सुक है, जितना कि मजदूरों की न्यूनता का अन्त करने लिये, तब हम पतनकारी दारिद्र्यके आकार में ह्रास की आशा कर सकते हैं, जो हमारी सभ्यता के काले धब्बों में एक धब्बा है। उस दरिद्रता के विनाश के पूर्व इस विकास की प्रगति मे मानव-हृदय में भौतिक परिवर्तन

की आवश्यकता है। जब हृदय तृष्णा तथा स्वार्थ-परता से शुद्ध हो जायगा, जब मदिरा की अधिकता, अशुद्धि, अकर्मण्यता और आसक्ति ससार से सदा के लिये दूर कर दी जायगी, तब दरिद्रता तथा ऐश्वर्य का भेद जाता रहेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य उस: पूर्णानन्द के साथ करेगा, जिसका अनुभव उन थोड़े से व्यक्तियों को छोड़कर जिनके हृदय पहले ही से शुद्ध हैं, अन्य किसी को नहीं है और तभी सब लोग आत्म-गौरव एव पूर्ण शान्ति के साथ अपने परिश्रम का फल चक्खेंगे।

मनुष्यका आत्मिक साम्राज्य

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्चमानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्यं न विद्यते ॥ गी० ३।१७

मनुष्य जिस साम्राज्य पर निर्विवाद शासन के लिये निर्दिष्ट है, वह उसके मस्तिष्क तथा जीवन का साम्राज्य है। किन्तु यह साम्राज्य जैसा कि पहले दर्शाया जा चुका है, विश्व से पृथक नहीं है। यह अपने ही तक

सीमित नहीं है । इनका सम्बन्ध समस्त मानव-जाति प्रकृति, सृष्टि की घटनाओं जिसमें वह इस समय फँसा हुआ है, और अन्त में विशद विश्व से है । अन्तु इस साम्रा-ज्य में विजय पा लेने के अनन्तर मनुष्य के जीवन का रहस्य अपने आप खुल जाता है और उसे मानव-हृदय की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है । वह अच्छाई को बुराई से पृथक कर सकता है, वह उस पदार्थ के भी समझने की शक्ति प्राप्त करता है जो सत और असत दोनों से परे है तथा कर्म, उनकी प्रकृति एव परिणामों के भी जानने की क्षमता रखता है ।

वर्तमान समय में मनुष्य न्यूनाधिक क्रान्तिकारी विचारों के शासन में है और इन्ही विचारों पर विजय पाना जीवन का सर्वोत्कृष्ट विजय है । निर्बुद्धि मनुष्यों की धारणा है कि आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुयें अधिकृत की जा सकती हैं और वे वाह्य वस्तुओं में परि-वर्तन करके अपने तथा दूसरों के लिए आनन्द की खोज में रहते हैं । वाह्य दशाओं के उलट फेर से स्थायी प्रसन्नता अथवा बुद्धिमत्ता नहीं प्राप्त हो सकती ।

पाप पूरित शरीर का रगड़मन्थन और लाड-प्यार आरोग्य था न स्वास्थ्य नही उत्पन्न कर सकता। बुद्धिमान लोग जानते हैं कि जबतक आत्मा अधिकृत नही होती, सच्चा अधिकार नहीं प्राप्त होता और जब आत्म-विजय प्राप्त हो जाती है, तब बाहरी वस्तुओं का आधिपत्य निश्चित है और तब वे दैवी सम्पदा के शान्ति वातावरण में अपने अन्तस्तल में प्रसन्नता का वेग उमड़ता हुआ पाते हैं। वे पापकर्म त्याग कर, मनो-विकारो के शासन से ऊँचे उठकर अपना शरीर शुद्ध एव सुदृढ़ बना लेते हैं।

मनुष्य अपने मन पर शासन कर सकता है और अपना शासक बन सकता है। जबतक वह इस प्रकार अपने मन पर शासन नही करता, उसका जीवन अपूर्ण एव असन्तोष जनक है। उसका आत्मिक साम्राज्य उन मानसिक शक्तियों का साम्राज्य है, जिनसे उसका स्वभाव निर्मित हुआ है। शरीर में कार्य्य कारण शक्ति नहीं है। शरीर का शासन (क्षुधा और मनोविकारों का शासन) मानसिक शक्तियों का नियन्त्रण है। प्रतिद्वन्दी

आन्तरिक आत्माओं, आत्मिकतत्त्वों का अधिकृत करना, बदलना, पुनर्नियोजित करना तथा पुनर्निर्माण करना, आश्चर्य्यकारक तथा ओजस्वी-कार्य्य है, जिसका सपादन प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्र अथवा विलम्ब से करना है। बहुत समय तक मनुष्य अपने को बाह्य शक्तियों का दास समझता चला आ रहा है, किन्तु एक दिन आता है, जब उसके आन्तरिक चक्षु खुल जाते हैं और वह देखता कि वह बहुत काल तक किसी अन्य का नहीं, स्वय अपनी ही अशुचि तथा अनियन्त्रित आत्मा का। दास रहा है। उस दिन वह ऊपर उठ जाता है और आत्मिक साम्राज्य की गद्दी पर बैठकर तृष्णा, क्षुधा तथा विकारों का दास की भाँति आज्ञा पालन नहीं करता; वरन उस समय से अपनी प्रजा की भाँति उस पर शासन करता है। मनुष्य जिस मानसिक साम्राज्य में धक्के खानेवाले भिखारी और प्रताड़ित दास की भाँति भ्रमण करने का अभ्यस्त था, उसे पता लगता है कि आत्म-निग्रह के महती सत्व द्वारा उसे सुव्यवस्थित बनाना, सुसङ्गठित करना एकैक्यता प्रदान करना, दुःखदाई द्वन्दों तथा विरोधों

का मिटाना और उसमे शान्ति स्थापन करना उसी का काम है।

इस प्रकार उत्थान करके तथा अपना स्वत्वपूर्ण आत्मिक अधिकार वर्त कर वह उन राजर्षियों का सहवास प्राप्त करता है, जिन्होने सभी कालों मे आत्म-विजय प्राप्त करके उद्देश सिद्ध किया है और अज्ञानता, अन्धकार तथा मानसिक दुःखों को जीत कर सत्य, शिव, सुन्दरम् के पद पर आसीन हुए हैं।

विजयः न कि समर्पण

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैवह्यात्मनोबन्धु रात्मैवरिपुरात्मन॥ गी० ६।५

जिसने आत्म-समर्पण का श्रेयस्कर कार्य अपने हाथों में लिया है, वह किसी निषिद्ध वस्तु के प्रति अपने को अर्पण नहीं कर देता, वह केवल अपनी आत्मा को उत्तम वस्तुओं के अधीनस्थ करता है।

असत के प्रति आत्मसमर्पण अत्यन्त निकृष्ट दुर्बलता है। सत्य की आज्ञाकारिता सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। अपना व्यक्तित्व पाप, क्लेश; अज्ञानता तथा दुःख के हवाले करना वास्तव में यह स्वीकार करना है कि "मैं त्यागता हूँ, पराजय स्वीकार करता हूँ, जीवन असत है, मैं उसकी शरण हूँ !" इस प्रकार असत के प्रति यह आत्म-समर्पण धर्म का विरोधी है। यह साक्षात् सत का निषेध है और इस से संसार में असत की शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार असत की अधीनता से जीवन स्वार्थ-पूर्ण एवं खेद-जनक हो जाता है, प्रलोभनों को रोकने की शक्ति शरीर में नहीं रह जाती और सद्भावों से उत्पन्न होने वाले मानसिक आल्हाद एवं शान्ति का ह्रास हो जाता है।

मनुष्य चिरस्थायी समर्पण तथा दुःख के लिये नहीं बनाया गया है; किन्तु सुनिश्चित विजय तथा आनन्द के लिये बनाया गया है। ससार के सारे आत्मिक नियम उत्तम मनुष्य की सहायता करते हैं, कारण सद्गुण उनका पोषक तथा रक्षक है। दुर्गुण सम्बन्धी

नियम नहीं होते हैं। उसका स्वभाव ध्वंसक तथा संहारक होता है।

चरित्र का बुराई से भलाई की ओर रूपान्तर करना वर्तमान समय की साधारण शिक्षा पद्धति का अंग नहीं है। हमारे धर्माचार्य भी यह विद्या तथा अभ्यास खो बैठे हैं। अतएव इस सम्बन्ध में शिक्षा देने में असमर्थ हैं। अद्यावधि आचारिक उत्थान महती जन समुदाय में अज्ञात है। यह जीवन युद्ध की प्रबलता से आविर्भूत हो सकता है। समय आयेगा, जब चरित्र का बुद्धि पूर्वक निर्माण युवकों की शिक्षा का आवश्यक अङ्ग होगा और कोई मनुष्य उस समय तक शिक्षक का स्थान ग्रहण करने के उपयुक्त न होगा, जब तक कि वह चरित्र-निर्माण की उत्तम शिक्षा देने के निमित्त जो उस समय धर्म का प्रधान अंग होगा, आत्म-निग्रह, ईमानदारी तथा पवित्रता का अधिकारी न हो जायगा।

लेखक द्वारा जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है वह असत पर विजय प्राप्ति का, पाप

के विनाश का, सद्ज्ञान मे स्थायी रूप से मनुष्य के स्थित होने का और स्थायी शान्ति प्राप्ति करने का सिद्धान्त है। अज्ञानी मनुष्यों द्वारा चाहे यह जितना ही तोडा तथा छिपाया गया हो, किन्तु यह सिद्धान्त सभी महात्माओ द्वारा जो पहले हो चुके हैं अथवा भविष्य मे होंगे प्रतिपादित है और यही सत्य का सिद्धान्त है।

इस विजय का सम्बन्ध बाह्य दुर्गुणो, दुष्ट मनुष्यों दुष्टात्माओं तथा दुष्ट पदार्थों से नहीं, किन्तु आन्तरिक दुर्गुणो, दुर्विचारो, दुर्वासनाओ एव दुष्ट कर्मों से है। कारण, जब मनुष्य आन्तरिक बुराइयो का विनाश कर देगा, तब इस सम्पूर्ण जगत मे कौन कह सकेगा कि वहाँ दुर्गुण का वास है। जिस दिन मनुष्य का आभ्यन्तर उत्तम हो जायगा, उस महान् दिवस पर बुराई के सारे चिह्न संसार से अन्तर्हित हो जायगे, पाप और दुःख का लेश न रहेगा और अधिकाधिक प्राप्ति से सार्वभौमिक आह्लाद प्राप्त होगा।

एलिन-ग्रन्थावली

(प्रथम खण्ड)

अमेरिका के महान दार्शनिक श्रीयुत जेम्स एलिन की रचनायें नवयुवकों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुई हैं। उनकी अमर लेखनी में एक विलक्षण माधुर्यता, मानसिक-विकास के साधन और जीवन की गूढ़तम गुत्थियों को सुलझाने वाली प्रबल शक्ति मौजूद है। इस उपयोगिता को ध्यान में रखकर मैंने 'एलिन' महोदय की समस्त पुस्तकों का अविकल हिन्दी-अनुवाद खंडश: प्रकाशित करने का आयोजन किया है। प्रथम खण्ड में निम्न लिखित पुस्तकें हैं—

✓१–विचार पुष्पाञ्जलि (*Book of meditations*)
✓४–जीवन की कठिनाइयों पर प्रकाश (*Light on Lifes difficulties*)
२–मुक्ति-मार्ग (*The way of Peace*)
✓४–सफलता के आठ साधन (*The Eight pillars of prosperity*)
५–आत्म-रहस्य (*Out from the Heart*)

मूल्य तीन रुपये, स्थायी ग्राहकों से सवा दो रुपये।

एलिन-ग्रन्थावली

(द्वितीय-खण्ड)

इसमें निम्न लिखित पुस्तक हैं—

१–जीवन्मुक्ति (*All these things added*)
२–स्वावलम्बी बनो (*Be good to yourself*)
३–महत्वपूर्ण जीवन (*The Life triumphant*)
४–आनन्द-मार्ग (*Byways of blessedness*)
५–मनुष्य, तन, मन और परिस्थिति का स्वामी (*Man king, of mind, body and circumstance*)
६–सुख और सफलता के सिद्धान्त (*Foundation stone to happiness*)
७–जैसे चाहो वैसे बन जाओ (*As a man thinketh*)
८–शान्ति की ओर (*From Passion to Peace*)

मूल्य तीन रुपये, स्थायी ग्राहकों से सवा दो रुपये।

भारती-भवन, रामकृष्ण रोड, काशी।